अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकेश्वरवाद

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॒ च॒न्द्रमाः॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआप॒ः स प्र॒जाप॑तिः॥१॥

१. **तत् एव अग्निः**=वह प्रभु ही 'अग्नि' नामवाले हैं, सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **तत् आदित्यः**=वे प्रभु आदित्य हैं, सबका अपने अन्दर आदान करने के कारण आदित्य नामवाले हैं। **तत् वायुः**=वे प्रभु वायु हैं, सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **तत् उ चन्द्रमाः**=वे प्रभु ही चन्द्रमा हैं, आह्लादमय हैं, भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **तत् एव शुक्रम्**=वे प्रभु ही शुक्र हैं, शुचि व उज्ज्वल हैं। **तत् ब्रह्म**=वे प्रभु ब्रह्म हैं, बृहत् हैं, अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। **ताः आपः**=वे प्रभु ही **आपः**=आपः नामवाले हैं, सर्वव्यापक हैं (आप्=व्याप्तौ) **सः प्रजापतिः**=वह प्रभु ही प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति हैं। २. (क) पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक युग के व्यक्तियों को सभ्यता की प्रारम्भिक श्रेणी में स्थित मान लिया तब यह निश्चित ही था कि उस सभ्यता के लोगों में 'एकेश्वरवाद' के विचार का विकास नहीं हो सकता। **'विश्वानि देव सवितः'** मन्त्र में देव सविता का स्मरण है तो **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** मन्त्र में हिरण्यगर्भ का स्तवन है। **'प्रजापते न त्वदेता'** में प्रजापति की पूजा है तो **'अग्ने नय'** में अग्नि की उपासना है। एवं, वैदिक सभ्यता में बहुदेवतावाद तो था। (ख) एक और बात यह कि विद्वान् उस प्राकृतिक शक्ति को ही देव मान लेते थे, जो डर का कारण हो। गौ की पूजा तो नहीं, परन्तु सर्प यहाँ देवता हैं। बाढ़ आई तो ये जल व वरुण देवता की पूजा करने लगे, आग लगी तो अग्नि की उपासना प्रारम्भ हुई, आँधी ने वायु देवता की उपासना का उपक्रम किया और जब कभी ये इकट्ठे यहाँ आ गये। बाढ़, आग, आँधी सब इकट्ठे चलने शुरू हुए तो व्याकुलता से ये चिल्ला उठे **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**, परन्तु पाश्चात्यों ने जब यह मन्त्र पढ़ा तो सारी कल्पना समाप्त होती प्रतीत हुई, अतः उन्होंने इस मन्त्र को अर्वाचीन काल का कहकर बचाव कर लिया। बना बनाया सिद्धान्त छोड़ा कैसे जाए, परन्तु विद्वानों को आग्रह छोड़कर सत्य को देखना चाहिए। सत्य यही है कि वेद **'एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्'** मनुष्यों के एक ही आराध्य देवता को स्वीकार करता है और 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थः..., **स एष एक एव एकवृदेक एव'** इन शब्दों में प्रभु के एकत्व का प्रबल प्रतिपादन कर रहा है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'**, इन शब्दों में उपनिषद् कहती है कि ईश के नानात्व को देखनेवाला मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त होता है। ३. **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** एक ही परमात्मा को ज्ञानी लोग नाना नामों से कहते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में भी 'अग्नि' आदि भिन्न-भिन्न नामों से उस प्रभु का वर्णन किया है। इस स्तवन की सार्थकता इसी में है कि हम भी ऐसे बनें। अन्यथा आचार्य के शब्दों में हमारा यह स्तवन भाटों के समान हो जाएगा। (क) प्रथमाश्रम में हमें 'अग्नि व आदित्य बनना है'। एक ब्रह्मचारी के

जीवन का सूत्र यही होना चाहिए कि 'मैं आगे बढ़ूँगा, अग्नि बनूँगा' **'आरोहणमाक्रमणम्'**= ऊपर-और-ऊपर चढ़ता चलूँगा। इस आगे बढ़ने के लिए ही आदित्य=सूर्य की भाँति आदान करनेवाला बनूँगा। सूर्य गन्दे-से-गन्दे जोहड़ में से भी शुद्ध पानी को ले-लेता है और दुर्गन्ध को वहीं छोड़ देता है, मैं भी अच्छाई को ही लेनेवाला बनूँगा। (ख) गृहस्थ में मैं 'वायु व चन्द्रमा' बनने का प्रयत्न करूँगा। 'वा गतौ' सदा गतिशील रहूँगा। क्रियाशील बनकर 'श्री' का अर्जन करूँगा, जिससे मैं घर को भी श्रीसम्पन्न बना सकूँ और इस सुख-दुःखमय दुनिया में सदैव 'चदि आह्लादे' प्रसन्नतामय जीवन बिताने का प्रयत्न करूँगा। एवं, गृहस्थ का जीवनसूत्र है सदा क्रियामय, सदा प्रसन्न'। २. (ग) अब वनस्थ होकर हम अपने को 'शुक्र' बनाने में लगते हैं, 'शुक्र' अर्थात् शुचि, उज्ज्वल। गृहस्थ में जो थोड़ा बहुत राग-द्वेष का मल लग गया था उसे तपस्या व स्वाध्याय से धोकर वनस्थ शुक्र बनता है और पवित्र बनकर आज वह ब्रह्म-जैसा बना है। नैत्यिक स्वाध्याय ने उसे ज्ञान का पुञ्ज बना दिया है। ब्रह्म=ज्ञान, आज यह ज्ञानी बन गया है। एवं, वनस्थ का जीवन-सूत्र है 'पवित्रता व ज्ञान'। इन दोनों बातों ने ही उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) में प्रवेश का अधिकारी बनाना है। (घ) ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह 'आपः'=व्यापक बनने का प्रयत्न करता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के कारण इसका प्रेम सबके लिए हो गया है, इसका कोई ठिकाना Head Quarter नहीं, यह तो **'यत्र सायं गृहो मुनिः'** बन गया है। परिव्रजन करते-करते जहाँ पहुँचे, वहीं भिक्षा माँगी, उपदेश दिया और अगले दिन आगे। यह ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'प्रजापति' बनता है, प्रजा की रक्षा करना ही इसका यज्ञ है, इसी यज्ञ में इसने अपने 'सर्ववेदस्' की आहुति दे दी है। एवं, एक संन्यासी का जीवन सिद्धान्त 'व्यापकता व प्रजापतित्व' है। यह लोकसंग्रह की दृष्टि से निरन्तर कर्मों में लगा है। इस प्रकार ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह स्वयं ब्रह्म-सा हो गया है, अतः इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' बन गया है।

भावार्थ—हम अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए स्वयं अग्नि आदि बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह सञ्चालक प्रभु

सर्वे॑ निमे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्युत॒: पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥२॥

१. **सर्वे**=सारे **निमेषाः**=आँखों के पलक गिरने आदि छोटे-से-छोटे व्यापार भी **विद्युतः**=उस विशेषरूप से देदीप्यमान **पुरुषात्**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले (पुरि वसतीति पुरुषः) पुरुष के **अधि जज्ञिरे**=अधिष्ठातृत्व में ही हो रहे हैं। उस अध्यक्ष से ही प्रकृति चराचर को जन्म दे रही है।' ब्रह्माण्ड की गाड़ी उस प्रभु से ही चलाई जाती है। २. प्रश्न होता है कि जीव की क्या स्थिति है? जीव की स्थिति वही है, जो यात्रियों की। गाड़ी ड्राइवर चला रहा है, चल गाड़ी रही है, यात्री नहीं, परन्तु यह सब किसलिए? यात्रियों के लिए। यदि यात्री न हों तो गाड़ियों की आवश्यकता ही न हो। यात्री की कितनी महिमा है! यह सब इस यात्री—जीव के लिए ही तो है। प्रकृति उसकी गाड़ी है, प्रभु उसके ड्राइवर, परन्तु क्या यात्री अपनी इस महिमा के अंहकार में ट्रेन के ड्राईवर को यह कह सकता है कि दिल्ली नहीं गाड़ी मथुरा ले-चलो। यह तो ठीक है कि हम मथुरा जानेवाली गाड़ी का टिकट लें और मथुरावाली गाड़ी में बैठें, परन्तु मथुरावाली टिकट लेकर दिल्ली नहीं आ

सकते। ३. उस प्रभु को **न एनम् ऊर्ध्वम्**=न इसको 'ऊपर' इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं। **न**=न ही **तिर्य्यञ्चम्**=टेढ़े crosswise एक ओर से दूसरी ओर किसी स्थानविशेष में ग्रहण कर सकते हैं और **न मध्ये**=न ही बीच में **परि जग्रभत्**=ग्रहण कर सकते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं और इस सम्पूर्ण यन्त्रजाल को=ट्रेन के समूह को चला रहे हैं।

भावार्थ—पत्ता-पत्ता उस प्रभु के प्रशासन में हिल रहा है। वे प्रभु कण-कण में व्याप्त है, किसी देशविशेष में स्थित नहीं हैं, इसी से सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**हिरण्यगर्भः परमात्मा**। छन्दः—**द्विपदागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रतिरूप—विनीतता+नामस्मरण

न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः॥३॥

तस्य=उस प्रभु की **प्रतिमाः**=मूर्त्ति, नाप, सादृश्य, तुल्यता **न अस्ति**=नहीं है। २. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **नाम**=नामस्मरण व जिनके प्रति नमन जीव के लिए **महद्यशः**=महान् यश का कारण है। नमन से जीव का जीवन यशस्वी बनता है। नामस्मरण से वैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है, एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है जो हमें अत्यधिक उत्थान पर पहुँचाती है। सच्चा नामस्मरण तो है ही तदनुरूप बनना।

भावार्थ—ईश्वर की मूर्त्ति नहीं है। हम निराकार प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन बड़ा यशस्वी हो।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वतोमुख देव

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥

१. **एषः**=ये प्रभु **ह**=निश्चय से **देवः**=देव हैं। देव के अर्थ यास्कानुसार निम्न हैं—(क) **देवो दानात्**=वे प्रभु देनेवाले हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिए उसे क्या नहीं दिया? वे सब शक्तियों के देनेवाले हैं। (ख) **देवो दीपनात्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं। उस सर्वतो देदीप्यमान देव की दीप्ति की कल्पना आकाश में चमकते हुए सहस्रों सूर्यों की चमक से ही हो सकती है। (ग) **देवो द्योतनात्**=वे प्रभु सारे पिण्डों को द्योतित कर रहे हैं। प्रभु की दीप्ति से ही ये सारे सूर्य, चन्द्र व तारे दीप्त हो रहे हैं। २. ये प्रभु **सर्वाः प्रदिशः**=इन सब विस्तृत दिशाओं में **अनु**=(व्याप्य तिष्ठति) व्याप्त होकर रह रहे हैं। कौन-सा स्थल है, जहाँ प्रभु नहीं है। कण-कण में उस प्रभु की व्याप्ति है। ३. **पूर्वो ह जातः**=वे प्रभु निश्चय ही पहले से हैं। '**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**'=हिरण्यगर्भ प्रभु इस सृष्टि से पूर्व विद्यमान हैं। उनका कोई आदि नहीं, अनादि होते हुए वे सभी के आदि हैं। वे स्वयं तो 'स्वयम्भू'=खुदा हैं। ४. **सः उ गर्भे अन्तः**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के गर्भ में हैं। सबके अन्दर स्थित हुए-हुए वे सबका नियमन कर रहे हैं। ५. **सः एव जातः**=वे प्रभु अनादिकाल से इन सृष्टियों को जन्म दे रहे हैं। 'माता प्रजाता' का अर्थ है 'माता ने बच्चे को जन्म दिया'। इसी प्रकार यहाँ **स एव जातः**=उस प्रभु ने ही सृष्टि को जन्म दिया। 'जातः' यह भूतकाल का प्रत्यय सूचित कर रहा है कि भूत में न जाने कितने कालों से वे इन सृष्टियों का निर्माण कर रहे हैं। वस्तुतः अनादिकाल से यह चक्र चल रहा है। **सः जनिष्यमाणः**=भविष्य में भी वे इन सृष्टियों को जन्म देंगे। अनन्तकाल तक यह चक्र चलता जाएगा। यह

सृष्टि-प्रलयचक्र न जाने कब से चल रहा है और न जाने कब तक चलता चलेगा। ६. इस सृष्टि में मनुष्य को जन्म देकर प्रभु ही उसको ज्ञान भी देते हैं। हे **जनाः**=मनुष्यो! वे प्रभु **प्रत्यङ्**=तुम्हारे आत्मा में ही **तिष्ठति**=स्थित हैं। वे एक साथ अग्नि को ऋग्वेद का, वायु को यजुर्वेद का, सूर्य को सामवेद का और अङ्गिरा को अथर्ववेद का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि वे **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले है। ७. उस प्रभु को ढूँढने के लिए तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं वे तो अन्दर ही हैं। सब विद्याएँ पढ़कर भी (ब्रह्मचारी), यज्ञादि करके भी (गृहस्थ) स्तुति व कीर्तन में लगकर भी (वानप्रस्थ) मनुष्य प्रभु को तभी देखेगा जब वह अपने अन्दर ध्यान करेगा। यह अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला संन्यासी ही 'ब्रह्माश्रमी' बनता है, ब्रह्म को देखता है। ऋग्वेद से सब विज्ञानों का अध्ययन करके, यजुर्वेद के अनुसार सब यज्ञों का अनुष्ठान करके, सामवेद से उपासना करके जब मनुष्य (अथ) अपने अन्दर (अर्वाङ्) देखता है तभी ब्रह्म का दर्शन करता है। अथर्ववेद इसीलिए ब्रह्मवेद कहलाता है (अथ+अर्वाङ्)।

भावार्थ—हम देव, सब दिशाओं में व्याप्त, अनादि, अनन्त, सृष्टि-प्रलय-चक्र को चलानेवाले, हृदय में विद्यमान, सर्वतोमुख प्रभु का ध्यान करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तीन ज्योतियाँ : रमण करता हुआ षोडशी

यस्मा॑ज्जा॒तं न पु॒रा किं च॒नैव य आ॑ब॒भूव॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳरराण॒स्त्रीणि॒ ज्योती॑ꣳषि॒ सच॒ते स षो॑ड॒शी ॥५॥

१. **यस्मात्**=जिससे **पुरा**=पहले **किञ्चन एव**=कुछ भी न **जातम्**=नहीं हुआ, जो सबसे पहले से था। वे प्रभु अनादि है और सबके आदि है, अर्थात् सारे संसार का निर्माण कर रहे हैं। २. **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **आबभूव**=समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु ने लोकों का निर्माण किया और उन सबके अन्दर व्याप्त होकर रहने लगा। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** उसका सर्जन किया, उसमें प्रवेश किया। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु सारी प्रजा के रक्षक हैं। ४. **सः षोडशी**=उस सोलह कला सम्पूर्ण प्रभु ने **प्रजया**=प्रजा के हेतु से, प्रजा के रक्षण के हेतु से **त्रीणि ज्योतींषि**=तीन ज्योतियों को **सचते**=धारण किया है। द्युलोक में सूर्य, अन्तरक्षिलोक में चन्द्र व विद्युत् तथा पृथिवीलोक पर अग्नि को प्रभु ने स्थापित किया है। प्रजा के रक्षण के लिए इन ज्योतियों की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

कितनी अद्भुत है यह सृष्टि! इसके निर्माता प्रभु 'षोडशी' हैं, सोलह कला सम्पूर्ण हैं, वे पूर्ण हैं तभी तो उनकी बनायी यह सृष्टि भी पूर्ण हैं। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'=पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। उस षोडशी प्रभु ने जीव में भी 'प्राण, श्रद्धा' आदि सोलह कलाओं को जन्म दिया है। ५. **संरराणः**=सम्यक् रमण=क्रीडा करते हुए प्रभु इस संसार का निर्माण करते हैं। संसार को प्रभु की क्रीडा के रूप में देखना ही ठीक रूप में देखना है। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानवाला व्यक्ति कष्टों से ऊपर उठ जाता है। खेल में लगी चोट क्रोध का कारण नहीं बनती। उस चोट के सहने में गौरव का अनुभव होता है। देव वही हैं जो प्रभु के साथ इस क्रीडा में सम्मिलित होते हैं 'दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः'। देव खेलते हैं। इससे वे खिझते नहीं। देव ही महादेव का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। ये स्वयं उस ब्रह्म-जैसे

बन जाते हैं।

भावार्थ—संसार को प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखना ही तत्त्वज्ञान है। प्रभु ने जिन तीन ज्योतियों को धारण किया है, उन्हीं को धारण करना कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उग्रता व दृढ़ता, कर्म, अकर्म, विकर्म

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥६॥

१. **येन**=जिसने **द्यौः**=द्युलोक को **उग्रा**=बड़ा तेजस्वी बनाया है। द्युलोक में सूर्य व सितारे चमक रहे हैं। उनकी ज्योति से यह जगमगा रहा है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। इसे भी ब्रह्मज्ञान के सूर्य से तथा विविध विज्ञानों के नक्षत्रों से दीप्त करना है। २. **च**=और जिसने **पृथिवी**=पृथिवीलोक को **दृढा**=दृढ़ बनाया है। **'पृथिवी शरीरम्'**=यह शरीर ही पृथिवीलोक है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, इतने आघातों को सहती हुई यह पृथिवी कम्पित नहीं हो उठती, आकाश से होनेवाली बूँदों व ओलों के आघातों को शान्तिपूर्वक सहनेवाली यह 'क्षमा' है, 'धरा' है, सहनेवाली है, धारण करनेवाली है। ठीक इसीप्रकार हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। ३. **येन**=जिस प्रभु ने **स्वः**=स्वर्गलोक को **स्तभितम्**=थामा है, आधार दिया है। 'स्वर्गकामो यजेत'=इस स्वर्ग को शास्त्रनिष्ठ लोग वेदविहित यज्ञों के द्वारा प्राप्त किया करते है। इन यज्ञों के द्वारा **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा कर्मकाण्डी स्वर्ग प्राप्त करते है। 'आयुः, प्राणम्, प्रजाम्, पशुम्, कीर्तिम्, द्रविणम्, ब्रह्मवर्चसम्=ब्रह्मवेद के मन्त्र के अनुसार वहाँ स्वर्ग में दीर्घायुष्य है, प्राणशक्ति है, उत्तम गवादि पशु हैं, उत्तम प्रजा है, कीर्ति है, सम्पत्ति है, ब्रह्मतेज है। इन सब वस्तुओं के होने पर घर सचमुच स्वर्ग बन जाता है। ४. **येन**=जिस प्रभु ने **नाकः**=मोक्षलोक को **स्तभितम्**=थामा है। उन्हीं यज्ञों को जब ये लोग निष्काम होकर करते हैं तब ये यज्ञादि कर्म ही अकर्म हो जाते हैं। सङ्ग व फल को छोड़कर किये गये ये यज्ञ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। **ब्रह्म**=अथर्ववेद की समाप्ति पर कहा है कि इन 'आयु-प्राण' आदि को **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'**=मुझे लौटाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करलो। कामना से ऊपर उठकर किये गये कर्म ही अकर्म हो जाते हैं और इनसे मनुष्य मोक्ष=नाकलोक का लाभ करता है। ५. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष में **रजसः**=लोक-लोकोन्तरों को **विमानः**=विविध उद्देश्यों से बना रहे हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म ही विकर्म हैं, इन विकर्मियों के लिए ही विविध लोकों का निर्माण किया गया है। कर्मानुसार उस-उस लोक में जीव को वे प्रभु जन्म देते हैं। ६. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=दिव्य गुणों के पुञ्ज व देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा** =दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रभु आनन्दमय हैं, चूँकि देनेवाले हैं और दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं। आनन्द-प्राप्ति का उपाय दान व दिव्य गुणों को अपनाना ही है। उस प्रभु की पूजा का प्रकार भी उस प्रभु की भाँति देनेवाला बनना है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, शरीर दृढ़ हो, हम यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग का लाभ करें, कामना से ऊपर उठकर मोक्ष को प्राप्त करें। कभी भी विकर्मों में फँसकर लोक-लोकान्तरों में भटकें नहीं। प्रभु की भाँति दानशील बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

उपाय पंचक

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥

१. **यम्**=जिस प्रभु का **क्रन्दसी**=आह्वान करनेवाले—प्रभु को पुकारनेवाले, प्रभु के द्वार पर थपथपानेवाले (knock, and it will be opened to you) पति-पत्नी **अभ्यैक्षेताम्**=देखते हैं। संसार में मनुष्य विशेष आयु में आकर गृहस्थ में प्रवेश करता है, इसलिए कि किसी का सहारा लेकर वह इस अश्मन्वती नदीरूप संसार को तैर जाए। इस प्रलोभनमय संसार में बचे रहना बड़ा कठिन है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से बना 'पत्नी' शब्द संकेत कर रहा है कि पति-पत्नी ने उस यज्ञप्रभु को अवश्य पुकारना, उसका अवश्य ध्यान करना, संध्या करनी। २. प्रभु का दर्शन वे ही पति-पत्नी कर पाते हैं जो **अवसा**=रक्षण के द्वारा **तस्तभाने**=अपनी इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकते हैं। इस प्रत्याहार से बहिर्मुख यात्रा को समाप्त कर मनुष्य अन्तर्मुख यात्रा करता है, और अन्तःस्थित प्रभु को देखता है। ३. फिर, उस प्रभु को वे पति-पत्नी देखते हैं, जो **मनसा रेजमाने**=मन से चमकते हैं। जिनके मन में राग-द्वेष का मालिन्य नहीं है (रेज्=to shine)। ४. 'क्रन्दसी व रेजमाने' का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क्रन्द=रोदन) जो अपने पापों के लिए क्रन्दन करते हैं और अन्त में उन पापों के भय से मन में काँप उठते हैं। वस्तुतः 'अपने पापों' को स्वीकार confession और प्रभु से भयभीत होना' भी अपने को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है। जो प्रभु से भयभीत होता है, उसे किसी दूसरे से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं रहती। ५. वे उस प्रभु को देखते हैं **यत्राधि**=जिसकी अध्यक्षता में **उदितः सूरः**=उदय हुआ-हुआ सूर्य **विभाति**=चमकता है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की ज्योति से ही सब चमक रहा है। उस **कस्मै देवाय**=आनन्दमय दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। (गतमन्त्र में विस्तार देखिए)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के उपाय निम्न हैं १. प्रभु को पुकारना, प्रभु की प्रार्थना करनी। २. इन्द्रियों का दमन। ३. मन को निर्मल करना। ४. दानपूर्वक अदन। ५. पापों का स्वीकार कर प्रभु से भय मानना।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वेन का प्रभुदर्शन

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥८॥

१. 'वेन' शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील—to go, to move, (ख) ज्ञान प्राप्त करनेवाला—to know, (ग) प्रभु का पुजारी to worship। एवं, **वेनः**=क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति **तत्**=उस प्रभु को **पश्यत्**=देखता है। प्रभु के दर्शन के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' का समन्वय आवश्यक है। २. वेन उस प्रभु को देखता है जो **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुँचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमयकोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुँचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले-जाती है। वे प्रभु गुहा में विचरनेवाले हैं। उनको ढूँढने के लिए हमें

कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है? ३. **सत्**=वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार, सत्-ही-सत् हैं। 'सत्' शब्द की भावना यह भी है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्=उपस्थित होते हैं, उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर है, जाऊँगा दरवाज़ा थपथपाऊँगा तो प्रभु मिलेंगे ही, दरवाज़ा खुलेगा ही। ४. ये प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकनीडम्**=एक घोंसलेवाला **भवति**=होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, इसी प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं। ५. **तस्मिन्**=उस प्रभु में **इदं सर्वम्** =यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय **सम् एति**=समा जाता है **च**=और सृष्टिकाल में **विएति**=विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक-लोकोन्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं। ६. **सः**=वे प्रभु **ओतः च प्रोतः च**=इस संसार में ओत-प्रोत हैं। संसार-वस्त्र के वे प्रभु ही ताने-बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु **प्रजासु**=सब प्रजाओं के अन्दर **विभूः**=व्याप्त होकर रह रहे हैं।

प्रभु त्र्यम्बक है। 'त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य'=यह विग्रह की परिपाटी चली आ रही है। इसे 'त्रीणि अम्बकानि यस्मै' इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु के देखने के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' रूप तीन आँखें हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अमृत-धाम-सत्' : पिता का भी पिता

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥९॥

१. **विद्वान्**=जो ज्ञानी है, जिसका आगम अत्यन्त सुन्दर है, जिसने गुरुओं से स्वाध्यायादि करके खूब मनन किया है। **गन्धर्वः**=जो गाम्=वाणी को धारण करनेवाला है, वाक्शक्ति का ईश है, जो किसी भी बात का प्रतिपादन बड़ी सुन्दरता से कर सकता है। वह विद्वान् गन्धर्व **नु**=अब **तत्**=उस ब्रह्म का **प्रवोचेत्**=प्रवचन करे। २. किस प्रभु का? जो प्रभु (क) **अमृतम्**=अमृत हैं, प्रभु स्वयं जन्म-मृत्यु से ऊपर हैं। 'न मृतं यस्मात्'=प्रभु का स्मरण करनेवाला भी मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। (ख) **धाम**=ये प्रभु तेज के पुञ्ज हैं (धाम=तेजस्) अथवा ये प्रभु सबके **धाम**=घर हैं। यही भावना गत मन्त्र में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' शब्द से कही गई थी। वे प्रभु सबके अद्वितीय आधार हैं। (ग) **विभृतं गुहा**=ये प्रभु बुद्धिरूप गुहा में निहित हैं। यह हृदय-स्थली ही 'परम-परार्ध' कहलाती है। यहाँ प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवासस्थान है। विशेषकर इसलिए कि यहाँ प्रभु का दर्शन होना है। (घ) **सत्**=वे प्रभु पूर्ण निर्विकार हैं अथवा सदा उपस्थित हैं। मैं मिलने जाऊँ और वे घर पर न हों यह नहीं हो सकता। ३. एवं, वे प्रभु 'अमृत' हैं, 'धाम' हैं और 'सत्' हैं। **अस्य**=उस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=ये तीन पद गुहा **निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त गुह्य=रहस्यमय हैं। **यः**=जो **तानि**=प्रभु के इन तीन पदों को, ज्ञेय बातों को

वेद=जानता है **सः**=वह **पितुः** =पिता का भी **पिता असत्**=पिता होता है। ज्ञान को देनेवाला 'पिता' कहलाता है। प्रभु के तीन पदों को जाननेवाला ज्ञानियों का भी ज्ञानी होता है, अतः इसे यहाँ पिता का भी पिता कहा है।

भावार्थ—उस 'अमृत, सत्, धाम' का प्रवचन ज्ञानी लोग करें। हम प्रभु के इन पदों को जानकर पिताओं के पिता—ज्ञानियों के भी ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तृतीय धाम

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥१०॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **बन्धुः**=बन्धु हैं। बन्धु शब्द में मौलिक भावना 'बन्धन' की है। रिश्तेदार भी 'बन्धु' इसीलिए कहलाते हैं कि वे हमें एक बन्धन में बाँध देते हैं। २. **जनिता**=वे प्रभु हमें जन्म देनेवाले हैं, पिता हैं। कर्मानुसार उस-उस योनि में जन्म देने के कारण वे प्रभु हमारे 'जनिता' हैं। ३. वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों को तथा **धामानि**=उन लोकों में उस-उस घर को तथा तेज को वे प्रभु **वेद**=हमें प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे) 'यथाकर्म यथा श्रुतम्'=हमारे कर्म व ज्ञान के अनुसार वे प्रभु हमें उस-उस लोक में तथा उस-उस योनि में जन्म देते हैं। ये सब लोक-लोकान्तर भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जन्म देने के लिए ही प्रभु ने निर्मित किये हैं। उन-उन लोकों में दिये गये शरीर 'धाम' हैं और इन शरीरों में प्राप्त करायी गई शक्ति भी 'धाम' है। ५. **यत्र**=जिस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृतमानशानाः**=उस 'अमृत' प्रभु का सेवन करते हुए **तृतीये धामन्**=तृतीय स्थान में **अध्यैरयन्त**=विचरते हैं। (क) असुर लोग तमोगुण में विचरते हुए प्राकृतिक भोगों को ही परम ध्येय बनाते हैं। (ख) असुरों से ऊपर मनुष्य हैं। कुछ मनन-चिन्तन करने के कारण ये भोगों से कुछ ऊपर उठकर तमोगुण से ऊपर रजोगुण में विचरते हैं तथा शक्ति व यश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये नाना प्रकार के लोकहितकारी कार्यों को करके यशोलाभ करते हैं। (ग) इनसे भी ऊपर देव लोग हैं, ये सत्त्वगुण में अवस्थित हुए-हुए उस प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रभु ही तृतीय धाम हैं। देव सदा प्रभु में विचरते हैं। तृतीय धाम का चित्रण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है—

प्रथम	:	तमस्, असुर, प्रकृति, भोग व स्वार्थ
द्वितीय	:	रजस्, मनुष्य, जीव, यश, स्वार्थ, विरुद व परार्थ
तृतीय	:	सत्त्व, देव, परमात्मा, अमृतत्व व परार्थ

भावार्थ—इस शरीर में हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में विचरते हुए प्रकृति व जीव से परे उस तृतीय धाम प्रभु में विचरें। इसी से हम अमृतत्त्व का लाभ कर सकेंगे।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु में प्रवेश

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥११॥

१. **आत्मना**=मन से **आत्मानम् अभि सम् विवेश**=परमात्मा में प्रवेश करता है। सामान्यतः मनुष्य मन से संसार में विचरता रहता है, परन्तु जब मनुष्य अपने मन को प्रभु में लगाता है तब निम्न चार बातें करता है २. **भूतानि परीत्य**=प्राणियों को समझकर। जिस समय हम समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उस समय यदि उनकी मनोवृत्ति को बिना समझे बात करते हैं तब झगड़े उठ खड़े होते हैं और चित्त अशान्त हो जाता है और 'अशान्त मनवाला प्रभु को पाएगा' यह तो सम्भव ही नहीं **'नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'**। सबकी मनोवृत्ति को हम समझें और तदनुसार वर्तते हुए अपने मनों को अशान्त न होने दें। समाजशास्त्र के नियमों के अनुसार वर्तते हुए अपने जीवन को शान्त रखें। ३. **परीत्य लोकान्**=सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रादि सब लोकों को अच्छी प्रकार समझकर। (परि+इ=to understand fully) (क) इन सब लोकों को व तत्रस्थ पदार्थों को अच्छी प्रकार समझकर ही तो हम इनका ठीक प्रयोग करेंगे और रोगों से बचे रहेंगे। (ख) साथ ही इन लोकों का ज्ञान हमें इनके अन्दर प्रभु की महिमा का भी दर्शन कराएगा। अणु की रचना का चमत्कार किस वैज्ञानिक को मुग्ध नहीं कर देता? नाममात्र स्थान परिवर्तन से खाँड का सीरा बन जाना किसको चकित नहीं कर देता? ४. **सर्वाः**=सब **प्रदिशः**=अवान्तर दिशाओं में तथा **दिशः**=पूर्वादि दिशाओं में **परीत्य**=खूब भ्रमण करके। (क) भ्रमण से मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक बनता है, ज्ञान बढ़ता है और मनुष्य कूपमण्डूक नहीं बना रहता। (ख) उस-उस प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को भी अनुभव करता है। ५. **ऋतस्य**=पूर्ण सत्य प्रभुकी **प्रथमजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की गई वेदवाणी की **उपस्थाय**=उपासना करके, अर्थात् प्रतिदिन वेदवाणी का स्वाध्याय भी हमारे मनों व बुद्धियों को परिष्कृत करके हमें प्रभु के समीप पहुँचाने में सहायक होता है। एवं, प्रभु प्राप्ति के चार साधन हैं। १. जीव के मनोविज्ञान को समझना और तदनुसार व्यवहार करके झगड़ों से बचते हुए मन को शान्त रखना। २. प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से वस्तुओं के गुण-धर्म को समझकर, उनके ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग बनाना। ३. व्यापक भ्रमण से दृष्टिकोण को व्यापक बनाना, उस-उस प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को अनुभव करना। बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनकर सर्वज्ञ प्रभु की समीपता में स्थित होना। ४. प्रभु की वेदवाणी के अध्ययन से शरीर-मन व बुद्धि का परिमार्जन करना।

भावार्थ—मनोविज्ञान व विज्ञान के अध्ययन, भ्रमण तथा स्वाध्याय से हम अपने मन को प्रभु की ओर जानेवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन व तन्मयता

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥१२॥

१. यहाँ पिछले मन्त्र के 'भूतानि' पद का स्थान 'द्यावापृथिवी' ने ले-लिया है। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले प्राणियों के मनोभावों को **सद्यः**=शीघ्र ही **परि+इत्वा**=खूब समझकर। २. **परि लोकान्**=सब लोकों को समझकर। इनको समझना इनके ठीक प्रयोग के लिए आवश्यक है। प्रभु की महिमा तो इन्हीं में दिखती है। ३. **दिशः परि**=सब दिशाओं में भ्रमण करके। भ्रमण से हम बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनेंगे। सृष्टि का वैविध्य हमें विविधता के निर्माता का स्मरण कराएगा। **स्वः परि**=इस स्वयं

देदीप्यमान ज्योति सूर्य (स्वयं राजते) को देखकर। सूर्य प्रभु की सर्वमहान् विभूति है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजुः) यह आदित्य में दिखनेवाला पुरुष ही तो वह परमात्मा है। ५. वे प्रभु 'ऋत' हैं और उस प्रभु में ही ये सारे लोक-लोकान्तर पिरोये हुए हैं। एवं, यह ऋत का तन्तु सब लोकों में ओत-प्रोत है। इस **ऋतस्य तन्तुम्**=ऋत के तन्तु को जो **विततम्**=सारे लोकों में विस्तृत है, **विचृत्य**=विश्लिष्ट रूप से जानकर **'मुञ्जादिव इषीकाम्'**=मुञ्ज को हटाकर जैसे सींक को देखते हैं, उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों को अलग करते हुए मनुष्य क्रमशः अन्न से प्राण में, प्राण से मन में, मन से विज्ञान में और विज्ञान से आनन्द में पहुँचता हुआ **तत् अपश्यत्**=उस प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता क्या है? **तत् अभवत्**=प्रभु-जैसा ही हो जाता है। उस प्रभु की लाली मुझे भी लाल कर देती है। उस प्रभु की अग्नि में पड़कर मैं भी अग्नि के समान चमकने लगता हूँ। **तत् आसीत्**=उस प्रभु-जैसा ही तो वह जीव था। इसका साधर्म्य प्रकृति के साथ न होकर प्रभु के साथ ही तो था। प्रभु की तरह यह भी 'चित्' ही था। हाँ, अल्पज्ञता के कारण इसपर राग-द्वेषादि मलों का एक आवरण चढ़ गया था। आज प्रभु को देखकर यह उस आवरण को परे फेंककर उस-जैसा हो गया है। जीव प्रभु का ही तो छोटा रूप है। प्रभुरूप मणि तो अत्यन्त विशाल व महान् होने से मलिन ही नहीं होती, जीवरूप छोटी मणि अवश्य मलिन हो गई थी, परन्तु आज सब मल और भेद-भाव समाप्त होकर जीव प्रभु-जैसा दिखने लगता है।

भावार्थ—हम ठीक व्यवहार से मन को शान्त, वस्तुओं के ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग, भ्रमण से दृष्टि को विशाल, सूर्य-दर्शन से प्रभु-महिमा का दर्शन करके उस ऋत के वितत तन्तु का विश्लेषण करें और प्रभु का दर्शन कर प्रभु-जैसे ही बन जाएँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

बुद्धिवाद के परिणाम

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥१३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है कि मैं **सदसः पतिम्**=ब्रह्माण्डरूप घर के पति, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व, आश्चर्यमय **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करनेवाले **काम्यम्**=चाहने में उत्तम (सभा में उत्तम 'सभ्य' की भाँति) **सनिम्**=संभजन, संविभाग करनेवाले उस प्रभु से **मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ। २. इस उल्लिखित अर्थ में आपाततः यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'तेजोसि तेजो मयि धेहि' में जैसे तेजस्वी प्रभु से तेज की याचना हुई, इस प्रकार यहाँ भी बुद्धि की याचना बुद्धि व ज्ञान के पुञ्ज प्रभु से करनी चाहिए थी न कि 'सदसस्पति व अद्भुत' प्रभु से। कपड़ेवाले से आलू माँगना मूर्खता नहीं तो और क्या है? इस शङ्का का निवारण यह सोचने से हो सकता है कि प्रभु को पाँच नामों से स्मरण करने की क्या आवश्यकता थी? क्या एक नाम से सम्बोधित करके बुद्धि नहीं माँगी जा सकती? ३. वस्तुतः वैदिक साहित्य की इस शैली को हमें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'अमानित्वम् अदम्भित्वम्'=घमण्ड न करना, दम्भ से ऊपर उठना ही ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक वृक्ष है जिसपर अमानित्व व अदम्भित्वरूप फल लगते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मनुष्य बुद्धि को प्राप्त करके 'सदसस्पति' आदि विशेषणोंवाला बनता है। ५. बुद्धि को अपनाने का प्रथम परिणाम यह होता है कि मनुष्य 'स्वप्रेम, गृहप्रेम, प्रान्तप्रेम व राष्ट्रप्रेम से ऊपर उठकर

'विश्वप्रेम' की ओर बढ़ता है। यह विश्वप्रेम उत्पन्न होने पर ही मनुष्य **'न वियन्ति'**=विरुद्ध दिशाओं में न जाकर, मिलकर चलते हैं और युद्धों का अन्त हो जाता है। मनुष्य 'सदसस्पति' बनता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने लगता है। ५. **अद्भुतम्**=बुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य अद्भुत उन्नति करता है। अभूतपूर्व स्थिति को प्राप्त करता है, इतनी उन्नति करता है जितनी पहले कोई प्राप्त कर न पाये थे, अतः इसकी उन्नति आश्चर्यजनक होती है। ६. **इन्द्रस्य प्रियम्**=बुद्धिवादी मनुष्य विषयों की विषयता (बन्धन) को समझता हुआ उनमें फँसता नहीं और परिणामतः जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय होता है। ७. **काम्यम्**=प्रभु तो कामना में उत्तम हैं ही वे किसी से द्रोह व द्वेष करें, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। बुद्धिवादी देवलोग भी **'नो च विद्विषते मिथः'**=आपस में द्वेष नहीं करते। वे सदा सभी का भला चाहते है। शत्रुओं व अपकारियों का भी वे उपकार करते हैं और इस प्रकार उनके जीवन को बदलकर वे अपकारी को उपकारी बना डालते हैं। ८. **सनिम्**=वे प्रभु संविभाग करनेवाले है। प्रभु किसको भोजन नहीं देते? हाँ, कोई-कोई प्राप्त भोजन को गिरा बैठते हैं और परेशान होते हैं। मैं भी बुद्धिवाद को अपनाता हुआ बाँटना सीखूँ। एवं, बुद्धिवादी मनुष्य 'विश्वप्रेम' सीखता है, अभूतपूर्व उन्नति कर पाता है। जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय बनता है, सभी का भला चाहता है और सम्पत्ति का संविभागपर्वूक सेवन करता है। ९. **स्वाहा**=(क) (सु आह) यह बुद्धि की प्रार्थना बड़ी उत्तम हुई है, इससे उत्कृष्ट प्रार्थना हो ही क्या सकती है? (ख) (स्व-हा) इस बुद्धि को पाने के लिए स्व का त्याग आवश्यक है। १०. 'सदसस्पति' प्रभु की उपासना विश्वप्रेम के द्वारा ही हो सकती है, 'अद्भुत' प्रभु अभूतपूर्व उन्नति से ही उपस्थित होते हैं, 'इन्द्र के प्रिय' प्रभु को जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रसन्न कर पाता है, 'काम्य' प्रभु की उपासना हम सबके भले की कामना करके ही कर पाते हैं और 'सनिम्' प्रभु हमारे संविभागपूर्वक खाने से ही प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन में बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप 'विश्वप्रेम, अद्भुत उन्नति, जितेन्द्रियता, अद्रोह-अद्वेष तथा संविभागपूर्वक खाने की प्रवृत्ति प्रवृत हो।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवगण व पितरों से उपासित बुद्धि—मेधावी

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=बुद्धि की **देवगणाः**=देवगण **पितरः च**=और रक्षक लोग **उपासते**=उपासना करते हैं **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मेधाविनम्**=मेधावाला **कुरु**=कीजिए। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करता हूँ। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को 'अग्ने' नाम से सम्बोधित करके संकेत किया है कि सारी उन्नति बुद्धि पर ही निर्भर है। यह बुद्धि 'मेधा' है, मेरा धारण करनेवाली है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'=बुद्धिनाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। देवता जिसका नाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि हर लेते हैं। ३. मेधा वही ठीक है जिसकी देवगण उपासना करते हैं न कि दानव। बुद्धि का ग़लत प्रयोग मनुष्य को दानव भी बना देता है। क्या अणुबम्बों को बनाकर मनुष्य दानव नहीं बन गया? इसी अणुशक्ति का प्रयोग यन्त्रों के सञ्चालन में होकर मानवहित की साधना भी हो सकती है, अतः मुझे वही मेधा चाहिए जिसकी देव

उपासना करते हैं। ४. बुद्धि वही ठीक है जो मुझे रक्षक बनाती है। मैं बुद्धि का प्रयोग औरों के ध्वंस में न करूँ। निज जीवन में जो बुद्धि मुझे 'देव' बनाती है, वही बुद्धि सामाजिक जीवन में मुझे 'पितर' बनाती है। ५. इस बुद्धि को मैं आज ही प्राप्त कर सकूँ। इस बुद्धि को जितना शीघ्र प्राप्त कर सकें उतना ही ठीक। इसमें जितनी देर होती है उतना ही हानिकारक है।

भावार्थ—प्रभु मुझे बुद्धि दें, जिससे मैं देव व 'पितर'=रक्षक बन पाऊँ। सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाऊँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमेश्वरविद्वांसौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

धारण-मार्ग

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा॥१५॥

१. **मे**=मुझे **वरुणः**=वरुण **मेधाम्**=बुद्धि को **ददातु**=दे। वरुण का अर्थ है जो वरण करता है (one who elects) और इस प्रकार श्रेष्ठ (वरुण=वर=श्रेष्ठ) बनता है। संसार में 'प्रेय व श्रेय' में यदि मन्दबुद्धिता से मैंने प्रेय का वरण कर लिया तो लक्ष्य तक न पहुँच पाऊँगा। श्रेय का वरण करके श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर बनता चलूँगा। 'प्रातः उठना' व 'प्रातः सो लेना' इसमें मैं जागरण का ही वरण करूँ, सोने का नहीं। २. **अग्निः**=अग्नि नामक प्रभु मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दें। इस बुद्धि पर ही तो मेरी सारी अग्रगति व उन्नति निर्भर करती है। बौद्धिक प्रकर्ष ही उन्नति का मापक है। ३. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु मुझे बुद्धि दें। उन्नत होकर मुझे प्रजा की रक्षा में लगना है। ४. **इन्द्रः च**=और इन्द्र मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दे। मेरी बुद्धि मुझे जितेन्द्रियता की ओर प्रेरित करे। मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ। ५. **वायुः च**=और वायु मुझे बुद्धि दे। 'वा गतौ' मैं सदा क्रियाशील बना रहूँ। क्रियाशीलता से ही तो इन्द्रियों की शक्ति बनी रहेगी और वे कुमार्ग में न जाएँगी। आलस्य ही सब व्यसनों का मूल है। ६. **धाता**=सर्वधारक प्रभु **मे**=मुझे **मेधाम्**=बुद्धि **दधातु**=धारण कराए। **स्वाहा**=इस बुद्धि के धारण के लिए मैं त्याग करता हूँ। बुद्धि के द्वारा ही मैं अपना धारण करनेवाला बनता हूँ। वस्तुतः प्रभु के उक्त नामों में धारण के मार्ग का संकेत है। (क) ठीक चुनाव करके (वरुण), आगे-और-आगे बढ़ते चलना (अग्नि), निजू उन्नति करके प्रजारक्षण कार्य में लगे रहना (प्रजापति), प्रजारक्षण की योग्यता-वृद्धि के लिए जितेन्द्रिय बनना (इन्द्र), और जितेन्द्रियता के लिए सदा क्रियाशील जीवन बिताना (वायु) यही धारण मार्ग है (धाता)। जो मनुष्य अपना धारण व अविनाश चाहता है, उसे उल्लिखित मार्ग ही अपनाना होगा। ७. धारण के लिए, विनाश से बचने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधाकाम' मेधा की कामना करता है। मेधा प्राप्त करके यह योग्य मार्ग का वरण करता है, उसपर चलकर यह अधिकाधिक उन्नत होता चलता है और प्रजारक्षण के कार्य में व्याप्त रहकर यह जितेन्द्रिय बनता है, सदा क्रियाशील रहता है। इस प्रकार अपना धारण करता हुआ यह वास्तविक 'श्री' को प्राप्त करता है। इस 'श्री' का ही उल्लेख अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—मैं 'वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु व धाता' इन नामों से सूचित मार्ग को अपनाऊँ। मेरी बुद्धि श्रेष्ठ हो और ठीक मार्ग को अपनाकर मैं अपना धारण कर सकूँ।

ऋषिः—श्रीकामः। देवता—विद्वद्राजानौ। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः।

श्री त्रितय (ब्रह्मश्री, क्षत्रश्री, देवश्री) ज्ञान+बल+विनय (उत्-उत्तर-उत्तम) Head, Hand, Heart

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥१६॥

१. **इदम्**=यह **मे**=मेरा **ब्रह्म च**=ज्ञान **क्षत्रम् च**=और बल **उभे**=दोनों **श्रियम्**=श्री को **अश्नुताम्**=प्राप्त करें। 'ब्रह्म' शब्द बृहि वृद्धौ से बनकर 'बढ़ानेवाले' अर्थ का वाचक है। ज्ञान ही सब वृद्धियों का मूल है, अतः ब्रह्मशब्द 'ज्ञान' का वाचक हो जाता है। यही ज्ञान अन्ततः सदावृद्ध 'ब्रह्म' का दर्शन कराता है। 'क्षत्र' शब्द मूल में 'क्षत से त्राण' (चोट से रक्षा) की भावना को कहता है। चोट से रक्षा बल के द्वारा होती है, अतः क्षत्र शब्द बल का वाचक हो गया है। 'बल' कर्म से उत्पन्न होता है, अतः 'क्षत्र' कर्म का प्रतीक हो जाता है। 'क्षत्र' उस वृक्ष को कहते हैं जिसके फूल-फल तो 'चोट से रक्षण' हैं, तना व शाखाएँ बल हैं और मूल कर्म है। एवं ब्रह्म का अभिप्राय ज्ञान है, क्षत्र का अभिप्राय कर्म व बल है। मुझमें ये दोनों ही फूलें व फलें। मेरा ज्ञान भी बढ़े, मेरा बल व क्रियाशक्ति भी बढ़े। ज्ञान के विकास से मेरी श्री 'उत्' (उत्कृष्ट) होगी, बल व क्रिया के विकास से वह 'उत्तर' (अधिक उत्कृष्ट) हो जाएगी। केवल ज्ञान की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति बड़ी सुन्दर है, परन्तु हाथ कटे हैं। कर्म व बल की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति तो सुन्दर है ही, हाथ भी बड़े सुन्दर हैं। २. मुख भी सुन्दर हो, हाथ आदि भी सुन्दर हों, परन्तु यदि उसका हृदय काला हो तो वह युवति उस बेर से ही उपमा देने योग्य होती है, जो केवल बाहर से सुन्दर है। इससे तो कुरूप परन्तु उत्तम हृदयवाली युवति ही ठीक है जो नारियल के समान बाहर से सुन्दर न होती हुई भी अन्दर से मधुरजल से पूर्ण है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मयि**=मुझमें **देवाः**=दिव्यगुण **उत्तमाम् श्रियम्**=उत्तम श्री को **दधतु**=धारण करें। मेरे हृदय में दिव्यता हो, दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा 'नातिमानिता' में है। मेरा हृदय अभिमान—घमण्ड से रहित हो। उसमें विनीतता हो। मस्तिष्क में ब्रह्म, हाथों में क्षत्र तथा हृदय में दिव्यता व विनय—यही जीवन का चरमोत्कर्ष है। मानव-जीवन की यात्रा की पूर्णता इस दिव्यता में ही है। मस्तिष्क Head की पूर्णता ज्ञान से, हाथ Hand की क्षत्र से व हृदय Heart की पूर्णता दिव्यता से होती है। इन तीनों के पूर्ण होने में ही पूर्णता है। ३. यह **श्री**=लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु त्रिविक्रम हैं। यदि मनुष्य केवल **ब्रह्म**=ज्ञान को महत्त्व देता है तो वह **एक-विक्रम** होता है, **क्षत्र**=बल को भी अपनाने पर वह **द्वि-विक्रम** हो जाता है और दिव्यता को अपनाने पर वह **त्रिविक्रम** बनता है। वस्तुतः अब वह श्री-पति बन जाता है। ४. **तस्यै**=उस उत्तम श्री के लिए मैं **ते**=हे प्रभो! आपके प्रति **स्वाहा**=(स्व-हा) अपना समर्पण करता हूँ। प्रभु चित्रकार हैं, जीवरूप चित्र का अच्छा बनना इसी बात पर निर्भर करता है कि यह चित्रकार को चित्र बनाने दे, किसी प्रकार का विघ्न न करे तभी तो प्रभु उसे अपने अनुरूप बनाएँगे।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हमारी श्री उत्कृष्ट हो, ज्ञान+बल के द्वारा वह उत्कृष्टतर हो, और ज्ञान+बल+दिव्यता से वह उत्कृष्टतम हो। इस श्री की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। हम वह चित्र हों, जिसके चित्रकार प्रभु हों।

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः॥